Vol. 11, Issue-2 (July 2022) pp. 257-268 Sangeet Galaxy e-Journal [ISSN: 2319-9695]
UGC-CARE enlisted & Indexed in the EBSCO International Database of Journals

संगीत में रसोपलब्धि: एक विवेचन

ज्योतिर्मयी मिश्रा (शोधच्छात्रा)
गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय
प्रो0 ऋचा कुमार (शोध निर्देशिका)
महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश
Email: jyotirmaimishra@gmail.com

सार संक्षेप

सभी भारतीय विद्याओं एवं ललित कलाओं की भाँति संगीत का भी अन्तिम ध्येय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है. संगीत हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति है. 'रस' अथवा 'आनन्द' भी भाव की ही उन्नत अवस्था है. यह रस (आनन्द) भावरूप में प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है. संगीत इन्हीं भावों को उद्दीप्त कर रस-परिपाक अर्थात् ब्रह्मस्वाद सहोदर आनन्द की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ व सशक्त माध्यम है. संगीत में रससृष्टि के प्रमुख अभिकरण नाद, श्रुति, स्वर, बन्दिश, ताल, लय, काकु इत्यादि हैं जिनके सम्यक् प्रयोग से श्रोता व प्रयोक्ता रस के चरमोत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं, यह आनन्द अतीन्द्रिय है, ब्रह्मानन्द के समान है. इस आनन्द की प्राप्ति संगीत जैसी सूक्ष्म तथा दैवीय कला के माध्यम से ही सम्भव है. संगीत में इस अभौतिक आनन्द अर्थात् 'रस' की उपलब्धि किस प्रकारसे किनके माध्यम से तथा किस रूप में होती है. यही बताने का लघु प्रयास इस शोध प्रपत्र के माध्यम से किया गया है.

प्रस्तुत प्रपत्र शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन तथा कतिपय विद्वानों के साथ सम्बन्धित विषय पर वैचारिक मन्थन के उपरान्त निर्मित किया गया है. शोध प्रपत्र को लिखने में जो प्रविधि प्रयुक्त हुई है वह ऐतिहासिक एवं दार्शनिक प्रविधि के अन्तर्गत आती है.

मुख्य शब्द- सत्वोद्रेक, रंजकता, भावाभिव्यक्ति, अलौकिक स्थिति, परमानन्द, पुरुषार्थ-चतुष्टय.

भारतीय संगीत अत्यन्त प्राच्यविद्या है. सभी भारतीय विद्याओं की भाँति इसका उद्भव भी वेदों से माना गया है. वेद ईश्वरोक्त हैं, अनादि हैं. भारतीय सनातन संस्कृति में ऐसी मान्यता एवं दृढ़ विश्वास है कि वेदमूलक विद्याओं एवं शास्त्रों से नि:सृत ज्ञान का आश्रय लेकर ही मनुष्य अपना जीवन निरापद एवं आनन्दमय बना सकता है. वेदमूलक सभी विद्याएँ धर्मार्थकाममोक्ष अर्थात् 'पुरुषार्थ चतुष्टय' की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं. विद्या वही है जो मोक्ष पर्यन्त ले जाए. स्थूल रूप से देखा जाए तो संगीत भौतिक आनन्द के सृजन का माध्यम है, अत: इसे कला कहते हैं किन्तु जब इसी संगीत से अध्यात्म संसक्त होता है तब यह विद्या हो जाती है. 'पुरुषार्थ चतुष्टय' जो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु है, जिसमें 'मोक्ष' अर्थात् आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति पर्यन्त परमानन्द को प्राप्त होना सभी भारतीय विद्याओं का अन्तिम ध्येय है, संगीत को इसका समर्थ साधन माना गया है. संगीत में इसी अलौकिक

परमानन्द को 'रस' कहा गया है. रस की तुलना उस परमतत्व के साथ 'रसो वै स:' कहकर की गई है जो तैत्तरीयोपनिषद में इसप्रकार से प्राप्त होती है-

'आरम्भ में यह सम्पूर्ण विश्व असत् (अस्तित्वहीन) एवं अव्यक्त था. इसी (परमतत्व) में से इस 'व्यक्त सत्ता' का प्रादुर्भाव हुआ. उसने अपना सृजन स्वयं ही किया अन्य किसी ने उसको नहीं सृजा. इसी कारण इसके सम्बन्ध में कहा जाता है यह 'सुकृत' अर्थात् बहुत सुचारू एवं सुन्दर रूप से स्वरचित है और यह जो बहुत अच्छी तरह तथा सुन्दरता से स्वयं रचा गया है, वस्तुत: अन्य कुछ नहीं इस अस्तित्व के पीछे छिपा हुआ आनन्द 'रस' ही है. जब प्राणी इस आनन्द को, इस रस को प्राप्त कर लेता है तो वह स्वयं आनन्दमय बन जाता है.'[1]

तैत्तरीय उपनिषद में ब्रह्म को आनन्द स्वरूप माना गया है. उसके अनुसार-'आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म स्वयं आनन्द हैं.'[2]

ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है तथा तैत्तरीयोपनिषद् में ब्रह्म को चिर विश्रुत आनन्द शब्द के पर्याय के रूप में 'रस' कहा गया है. इस प्रकार ब्रह्म और रस अभिन्न हैं. 'सच्चिदानन्द जब द्रवित होते हैं तो वह रस रूप में प्रवाहित होते हैं तथा सबको अपना रस या मधु दान करते हैं.'[3] यह अमृतरसरूपी मधु निरतिशय आनन्द प्रदान करता है. जहाँ ध्यानावस्था में सत्य, ज्ञान, अनन्त का दर्शन होता है, आत्मबोध होता है तथा संवेदनशील हृदय में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप 'रसो वै स:' के माधुर्य की अनुभूति होती है.

संगीत इस रसात्मक आत्मानुभव का परम साधन है. संगीत का प्रयोजन ही 'आनन्द' है और आनन्द अथवा 'आस्वाद' 'रस' का पर्याय है. संगीत में रस अपने मूलरूप से सूक्ष्मतर होते हुए आत्मरस या ब्रह्ममरस के रूप में परिणत् हो जाता है. इसे 'रस' परिपाक' की अवस्था कहते हैं. रस तथा भाव प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहते हैं. संगीत में रस-निष्पत्ति के आधार में सूक्ष्म रूप से नाद, श्रुति स्वर इत्यादि का सौन्दर्यात्मक प्रभाव ही 'रस' की सृष्टि करता है. आगे हम संगीत के इन्हीं आधारभूत तत्वों का उल्लेख करेंगे-

संगीत में 'रस-सृष्टि' के प्रमुख आधार:

1. नाद -

नाद सम्पूर्ण जगत का मूल कारण है अखिल ब्रह्माण्ड इसी में व्याप्त है. नाद ध्वनि की प्रथम अवस्था है. नाद के द्वारा ही समस्त भावों की अभिव्यक्ति होती है. नाद के बिना संगीत कला सम्भव नहीं है. संगीत की अभिव्यक्ति में तीनों विधाएँ गायन, वादन एवं नृत्य 'नाद' के अधीन हैं. ''नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाद के संदर्भ में वाक् शब्द का उल्लेख किया है.''[4] और इसे सम्पूर्ण वांगमय और चराचर जगत की जननी कहा है. इसी से जगत् के सभी व्यवहार होते है- चाहे वह भाषा के रूप में हो अथवा संगीत के रूप में.

नाद अथवा वाक् की उत्पत्ति की चार अवस्थाएँ, क्रमश:- परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी हैं. जिनमें प्रथम तीन अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा अलौकिक हैं जिनका प्रत्यक्ष दर्शन कठिन साधना के उपरान्त योगियों द्वारा किया जाता है. सामान्य व्यक्तियों द्वारा यह ग्राह्य नहीं है. चतुर्थ एंव अन्तिम वाक् वैखरी को लौकिक अर्थात् व्यवहार का आधार माना गया है. 'परा' नाद की प्रथम अवस्था है जिसे अनाहत नाद अथवा स्वयंभू नाद की संज्ञा दी गई है यह बिना किसी आघात के सतत् ध्वनित होने वाला नाद है. द्वितीय अवस्था 'पश्यन्ती' की है जिसका अर्थ है देखना, अर्थात् यह साधनारत् योगियों को आत्मदर्शन कराती है. यह ईश्वर तत्व है. यह हृदय में होने वाले भावों को स्वयं देखने के अर्थ में है जो अनुभूति कहलाती है और एक प्रकाश के रूप में प्रस्फुटित होती है जो सौन्दर्य की अनुभूति है.

तृतीय अवस्था है 'मध्यमा'. यह नाद के मध्य की अवस्था है अर्थात् सूक्ष्म भी है और स्थूल भी. सूक्ष्म से ही स्थूल का उद्भव होता है. गायन की क्रिया प्राय: मध्यमा वाक् से ही सम्पन्न होती है, क्योंकि मध्य शक्ति का प्रतीक है. स्वरों का आभास मात्र तिरोभाव में रहता है लेकिन वह प्रकट न होकर आभास देता है, उस स्वर की सुगन्ध मात्र आभासित होती है.

नाद की अन्तिम अवस्था वैखरी है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरों के समक्ष अपने भावों को प्रस्तुत करने में समर्थ हो पाता है. संगीत में स्थूल रूप से वैखरी स्वर का प्रकटीकरण है. वैखरी में स्वरों के प्रकटीकरण द्वारा राग की अवतारणा की जाती है. शब्दों का पूर्ण रूप से उच्चारण, दूसरों को अर्थ की प्रतीति 'बैखरी' के माध्यम से ही होती है.

नाद में वह शक्ति है जो जड़ प्रकृति को भी प्रभावित करती है. पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक प्रणव-भारती में कहा है कि ''संगीत में शब्द के अर्थ का बोध हुए बिना ही भाव या रस की प्रतीति हो जाती है. यहाँ तक की शब्द हों या न हो, केवल नाद के ही बल से संगीत में रस निष्पत्ति हो जाती है. इसी से यह मानना पड़ता है कि नाद में कोई शक्ति सन्निहित है, जो कि शब्दों की वाचक शक्ति की सहायता के बिना ही अर्थाभाव या रस की प्रतीति करा देती है."[5] इसी प्रकार नाद का महत्व बताते हुए आचार्य बृहस्पति ने कहा है कि ''भाषा की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है. भाषा भले ही कभी-कभी ठीक से मनोभावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो पर नाद कभी असफल नहीं होता. नाद सौन्दर्य जनित आनन्द का अनुभव प्रत्येक को होता है. गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिए बिना ही स्वर संचालित शुष्काक्षरों अथवा आलापों द्वारा जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे साधारण प्राणियों और श्रोताओं के हृदय में चेतना का अनुभव करा देता है, जिसे 'रस' कहा जाता है."[6] एक अन्य दृष्टि से यह कह सकते है कि नाद सबसे सूक्ष्म तथा अमूर्त है इसलिए नाद ब्रह्म का ही पर्याय है ब्रह्म आनन्दस्वरूप है अत: नाद भी आनन्द है तथा जो आनन्द है वही 'रस' है. इस प्रकार सांगीतिक रस निष्पत्ति में नाद का मूल आधार होना स्वाभाविक है.

श्रुति -

वह ध्वनि अथवा नाद जो रंजक होकर आनन्द प्रदान करे व श्रवणेन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हो, श्रुति नाम से प्रसिद्ध हैं. कहा जाता है ये संगीतोपयोगी नाद के सूक्ष्म भेद हैं तथा शास्त्रकारों द्वारा इनकी संख्या 22 मानी गई है इन्हीं 22 नादों (जो श्रुति नाम से संज्ञित है) से सम्पूर्ण संगीत का व्यापार होता है. ये बाईस श्रुतियाँ भारतीय संगीत की मूल आधार हैं. स्वरों के सूक्ष्म अन्तरों को निर्देशित करने का साधन ये श्रुतियाँ ही मानी गई हैं. स्वरों की तीव्र विकृत अवस्था इन श्रुतियों के माध्यम से ही ज्ञात है. शास्त्रोल्लिखित तीन ग्रामों का स्पष्ट विभाजन व उनके निदर्शन का आधार ये श्रुतियाँ ही रही हैं. जातिगायन काल में ये श्रुतियाँ ही रस-निष्पत्ति का साधन मानी जाती थीं ये बाईस श्रुतियाँ 5 जातियों में विभक्त थीं. श्रुतियों का परस्पर एक-दूसरे से स्पष्ट पृथक स्वरूप जानने के लिए जातियों का निरूपण किया गया. इन श्रुति जातियों का ज्ञान उपयोगी माना गया क्योंकि श्रुति जातियों को जानने से सजातीय श्रुतियों की संगीत द्वारा रंजकता उत्पन्न की जा सकती है. शास्त्रकारों द्वारा बताए गए 5 श्रुति जातियों के नाम क्रमश: दीप्ता, आयता, करूणा, मृदु और मध्या हैं. बाईस श्रुतियों के नाम तथा उनकी जातियों के नाम अनर्गल नहीं दिए गए वरन् इनका सार्थक स्वरूप है. इनके नामों के पीछे गूढ़ अर्थ निहित है. जब हम संगीत में निमग्न होकर प्रतिक्षण स्वर और श्रुतियों में भावाभिव्यक्ति को देखते हैं तो भारतीय मनीषियों व मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा दिये हुए इन नामों की सार्थकता का अनुभव करते हैं. श्रुतियों के नाम व उनके जाति नामों की सार्थकता अनुभव द्वारा सिद्ध है इनके नाम पूर्णरूप से इनके भावरूप को सूचित करते है. इसको उदाहरणस्वरूप 'प्रणव-भारती' में इस प्रकार बताया गया है-''षड्ज की प्रथम श्रुति तीव्रा है. प्राचीन शुद्ध निषाद यानी आधुनिक कोमल निषाद को एक श्रुति ऊपर चढ़ाने से यह तीव्रा कर्णगोचर होगी. वीणा में प्रत्यक्ष उसे बजाकर अनुभव लेने से वह कान को, मन को और दिल को कैसी चुभती सी लगती है, यह स्वानुभूति से ही ज्ञात हो सकता है. प्राचीनों ने जिसे काकली कहा है और आज हम जिसे तीव्र निषाद या बिलावल अंग का शुद्ध निषाद कहते हैं, उस काकली के और प्राचीन शुद्ध (आधुनिक कोमल) निषाद के बीच में यह तीव्रा श्रुति है. सामान्य स्वरज्ञान रखने वालों और उन स्वरों के असर का अल्पाधिक अनुभव करने वालों को क्षोभिणी और कुमुद्वती के बीच की यानी प्राचीन शुद्ध और काकली निषाद के बीच की उस श्रुति का उच्चारण या श्रवण किस प्रकार का संवेदन जगाता है, उसका अनुभव करने से साफ हो जाएगा कि प्राचीनों ने बहुत सोच-समझकर स्वानुभव लेकर उसका नाम तीव्रा रखा है.''[7]

"षड्ज की अन्तिम श्रुति है छन्दोवती. इस नाम के पीछे भी एक विशेष गूढ़ अर्थ सन्निहित है. छन्दोवती यानि छन्दोबद्ध करने वाली अर्थात् सारे सप्तस्वरों को नापने वाली उन्हें नियमित बनाने वाली जो श्रुति है, उसी को प्राचीनों ने छन्दोवती कहा. सब जानते हैं कि अक्षरों के जोड़ से ही शब्द बनते है, किन्तु शब्द बनाने के पूर्व इन अक्षरों के अर्थों का भी नियमन आवश्यक होता है. ऐसे अक्षरों के अर्थ को नियमित रूप देकर शब्द बनाए गए हैं और शब्दों को अन्वित वाच्यार्थ देने के लिए वाक्य बनाए जाते हैं. उन वाक्यों को नियमबद्ध करने का साधन छन्द कहलाता है. इसीलिए 'छन्दो वाक्य प्रयोगेषु' ऐसा विधान दिया गया है. संगीतशास्त्र में भी 'षड्ज' सप्त स्वरों को नियमबद्ध करने

वाला स्वर है. इसी से षड्ज की श्रुति का नाम छन्दोवती रखा गया है. सारे संगीत को छन्दोबद्ध करने वाली स्वरों को नियमबद्ध रखने वाली जो श्रुति है, वही 'छन्दोवती है.''[8]

इसी पुस्तक के एक प्रसंग में पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने संगीत साधनोपरान्त दयावती श्रुति के प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा उसके रस दर्शन व भावनुभूति को बहुत ही सजीव रूप में बताया है जिससे ये दयावती श्रुति के नाम व उसकी करूणा जाति की सार्थकता स्वानुभूति द्वारा सिद्ध प्रतीत होती है.

मध्यकाल तक श्रुतियों द्वारा ही रस की निष्पत्ति मानी जाती है. जिस जाति की श्रुति हो, उस जाति से सम्बन्धित रस ही उस श्रुति के लिए मान्य था. इन श्रुति जातियों के रसशास्त्र से प्रगाढ़ सम्बन्ध को 'वैष्णव रसशास्त्र' के प्रणेता श्रीमद्रूपगोस्वामी अपनी कृति भक्तिरसामृतसिन्धु में स्पष्ट रूप से बताते हैं. इसमें इन्होंने भक्ति रसास्वाद से सम्भूत चित की पाँच अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है. यथा-पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप और क्षोभ. चित्त की जो पाँच अवस्थाएँ हैं उनके साथ श्रुतियों की पाँच जातियों का सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से जुड़ता है.

''आयता' का शब्दार्थ है- विस्तृत. इसका सम्बन्ध चित्त की विस्तृति से जोड़ा जा सकता है. तद्वत् 'दीप्ता' से चित्त की दीप्ति का संकेत मिलता है. जिसे विक्षेप भी कह सकते हैं. 'मृदु' से चित्त के मार्दव या विकास का संकेत मिलता है, क्योंकि मार्दव आए बिना, कठोरता रहने से, चित्त का विकास सम्भव नहीं है. 'मध्या' की स्थिति एक सी रहती है और इसलिए वह मन की इच्छारहित अवस्था को अथवा तृप्ति या पूर्ति की अवस्था को सूचित करती है. शान्तरस में चित्त् की यह अवस्था होती है, यह सर्वविदित है. जब तक चित्त में क्षोभ नहीं होता, उस पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता तब तक मन विचलित नहीं होता, यह सिद्ध वस्तु है. अत: क्षोभ और करूणा में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है. करूण के अतिरिक्त रौद्र, भयानक तथा वीभत्स ये तीन रस ही क्षोभ के सर्जक हैं. अत: करूणा जाति द्वारा इन रसों से होने वाली चित्त की अवस्था का सूचन किया जा सकता है. रूद्र शब्द का रूढ़ अर्थ भयोत्पादन माना जाता है कि किन्तु वास्तव में इसका यौगिक अर्थ अथवा शब्दार्थ रूलाने वाला होता है. रूदन का और करूणा का प्रगाढ़ सम्बन्ध है. तद्वत् 'भयानक' जो भय का द्योतक है, वह भय के साथ-साथ करूणा का जनक है, क्योंकि भयभीत व्यक्ति में भय के बाद करूणा का संचार हो ही जाता है. युद्ध-क्षेत्र में पड़े हुए रक्त, माँस, मज्जा से लथपथ शव और गृद्धादिक पक्षियों तथा श्रृगालादिक पशुओं का उनके प्रति व्यवहार देखकर जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उस वीभत्स दृश्य को देखकर जो घृणा उत्पन्न होती है, उस घृणा के साथ ही चित्त में करूणा का भी आविर्भाव हो जाता है. इसीलिए रौद्र, भयानक और वीभत्स-ये तीनों करूणोत्पादक हैं, यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है. ''चित्त की पाँच अवस्थाओं, श्रुति की पाँच जातियों व रस के पारस्परिक सम्बन्ध को तालिकाबद्ध रूप में इस प्रकार दर्शाया गया है-

रस	**रसास्वादजनित चित्त की अवस्था**	**श्रुति जाति**
शान्त	पूर्ति (तृप्ति)	मध्या

दास्य, सख्य, वत्सल	विकास	मृदु
मधुर (श्रृंगार) हास्य	विस्तार	आयता
वीर, अद्भुत	विक्षेप	दीप्ता
करूण, रौद्र, वीभत्स, भयानक	क्षोभ	करूणा''[9]

इस प्रकार इस तालिका के माध्यम से श्रुतियों की जातियों के नाम सार्थक प्रतीत होते हैं इन श्रुति नादों का चित्त पर व्यापक प्रभाव पड़ता है. इनसे भावों की गूढ़ अभिव्यक्ति होती है. यद्यपि आज के संदर्भ में यदि हम बात करें तो सामश्र्यहीनता के कारण श्रुतियों का सम्बन्ध पहले की तरह 'रस' से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जोड़ पाते फिर भी श्रुतियाँ रस से सम्बन्धित हैं, यह तो हमें मानना ही पड़ता है. श्रुतियों के प्रयोग से भावान्तार होता है. ''जैसे दरबारी के ग का आंदोलन. जब हम कहते हैं दरबारी का ग नीचा है, इसका अर्थ है किसी श्रुति विशेष का प्रयोग उसके आंदोलन में है और यही आंदोलन उसे गाम्भीर्य प्रदान करता है. भैरव का रे रामकली या कलिंगड़ा के रे से भिन्न है, जो करूण रस पैदा करता है, अत: यह कोमल ही नहीं है वरन् उसमें कुछ और है, वह है श्रुति प्रयोग.''[10]

स्वर -

श्रुति अपने अप्रयुक्त अवस्था में श्रुति ही रहती है किन्तु वास्तव में श्रुति ही जब स्पष्ट रूप से प्रयुक्त होकर श्रोतृगम्य होती है तो उसे 'स्वर' कहते है. अर्थात् श्रुति ही स्वर का स्थान पाती है. ये स्वर अनुरणन युक्त होते हैं तथा स्वयं प्रकाशित होते हैं. ये श्रोताओं के चित्त का स्वत: रंजन करने में समर्थ होते हैं इन्हें किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं पड़ती. ये स्वर आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रबल माध्यम हैं अर्थात् आत्मा के सुख-दु:ख आदि संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं. इस कारण से स्वरों का रस से सम्बन्ध आदिकाल से ही मान्य रहा है.

आचार्य भरत से लेकर परवर्ती सभी शास्त्रकारों ने स्वरों से सम्बन्धित भाव तथा उनसे निष्पादित रसों का वर्णन किया है. नाटयशास्त्र में वर्णित सूत्र है

''हास्यश्रृंगारयो: कार्यो स्वरो मध्यमपंचमो.
षड्जार्षभो तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च..
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करूणे रसे.
धैवतश्चैव कर्तव्यो वीभत्से सभयानके..

सात स्वर हैं षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत निषाद. इन (स्वरों) का रसो में उपपादन करना चाहिए.

हास्य-श्रृंगार में मध्यम-पंचम स्वरों को 'करना' चाहिए. उसी प्रकार वीर-रौद्र-अद्भुत में षड्ज-ऋषभ करूण रस में निषाद और गांधार और वीभत्स-भयानक में धैवत (को करना चाहिए).''[11]

सम्पूर्ण संगीत स्वरों के ताने-बाने में ही निहित है. स्वर संगीत में 'रस' को नियन्त्रित करने वाला प्रमुख घटक हैं. स्वर के अनेक रूपों तथा अनेक विविध प्रयोगों द्वारा रस प्रक्रिया सम्भव होती है. स्वर के विविध प्रस्तुतीकरण के तरीके जैसे गमक, मीड़, कण, खटका, आंदोलन स्वरों की औडवादि जातियाँ, तार मध्यादि सप्तक ये सभी रस को प्रभावित करते हैं तथा इनमें परिवर्तन से भाव तथा रस में भी परिवर्तन होता है.

राग -

जब हम संगीत व रस की बात करते हैं तो मूलरूप से राग ही केन्द्र में होता है. इसके आधार पर ही संगीत के सभी तत्वों का विकास होता है. राग ही वह आधार है जो बिना शब्द, ताल, वाद्य की सहायता के भाव पैदा करने में सक्षम है. स्वर और श्रुति की जो भाव तथा रस पैदा करने की क्षमता है वह राग के सन्दर्भ में ही साकार तथा मूर्त होती है. श्रुति, स्वर की महत्ता तथा कार्यक्षमता राग में ही सम्भव है. अत: इनके सहयोग से राग ही रूप धारण करता है और रस प्लावित करने में समर्थ होता है.

संगीत आन्तरिक लोकोत्तर आनन्द की अभिव्यक्ति है और राग इस अभिव्यक्ति का प्रबल माध्यम है. राग भारतीय संगीत में प्राण के समान है. अर्थात् संगीत की चेतना है. राग का धर्म है 'रंजन करना', 'रंजयते अनेन इति राग:' अर्थात् जो रंजन करे वह 'राग' है. राग और रस सर्वथा अभिन्न है. राग स्वरों का वह विशिष्ट संयोजन है जो अपरिमित आनन्ददायी है जो मानव मन में अन्तर्निहित भावों को उदीप्त कर रस-परिपाक अर्थात् अलौकिक अवस्था तक पहुँचाता है. राग और ब्रह्म दोनों ही आनन्दरूप एवं अमूर्त हैं. इसीलिए दोनों में ऐक्य माना गया. अत: रागों में ईश्वर का अधिष्ठान कर उन्हें पूज्य माना गया तथा इनके ध्यान की परम्परा उद्भूत हुई.

राग में रसतत्व विशेष अनुभूति मात्र है जिसका कोई आकार नहीं 'राग-रस' में पूर्णत: लीन होने के लिए स्थूल अवलम्ब की आवश्यकता पड़ने पर इन रागों के देवमय स्वरूपों पर आधारित राग ध्यान निर्मित किये गए और इन्हीं की सहायता से राग के देवमय स्वरूपों को एक निश्चित रूप दिया गया. इन रागरूपी देवों के ध्यान से रसरूपी आनन्द की प्राप्ति होती है जो क्रमानुसार सूक्ष्म होते हुए अलौकिक एवं चिरकालिक आनन्द में परिणत् हो जाता है.

प्रत्येक राग एक विशेष मनोभाव का व्यंजक होता है यही मनोभाव उस राग की प्रकृति है, और जब यही प्रकृति मूर्तिमान हो उठती है तो वही राग के देवी या देवता कहलाते हैं. शास्त्रकारों का ऐसा मत है कि प्रत्येक राग का एक नादमय तथा एक देवमय रूप है. राग का जो नामदय स्वरूप है वह उसका शरीर है तथा भावमय रूप राग के शरीर में रहने वाली उसकी आत्मा. राग की आत्मा ही राग के देवता के रूप में प्रतिष्ठित है. जिस प्रकार प्रत्येक भौतिक शरीर अभिव्यक्ति का माध्यम है, वैसे ही प्रत्येक राग का नादमय रूप उसके रसरूप आत्मरूप में अभिव्यक्ति का माध्यम है.

रागों में देवत्व की भावना का सम्बन्ध सम्भवत: आगम पुराण परम्परा से भी प्राचीन है. रागों के आकर्षण व माधुर्य द्वारा रसिक अनायास ही सम्मोहित होते हैं यह राग में देवत्व को परिलक्षित करता है. यह अविकल्पित आकर्षण, अदृश्य शक्ति ईश्वर के अंश का परिणाम है इसलिए रागों द्वारा उत्पन्न होने वाली रस की अनुभूति ब्रह्मानन्द रूप ही है.

रागध्यान के मूल में हमारी सुदृढ़ आध्यात्मिक चेतना रही है. कालक्रमानुसार इस आध्यात्मिक चेतना में ह्रास हुआ फलत: रागध्यान परम्परा का उल्लेख मध्यकाल के पश्चात् प्राप्त नहीं होता है.

वर्तमान परिस्थितियों, संगीतज्ञों, सांगीतिक विद्याओं तथा रागों के रूप में परिवर्तन आदि के कारण रागध्यान परम्परा पूर्णरूपेण समाप्त हो चुकी है. जहाँ तक रागों से रस के तादात्म्य की बात करें तो रागों के स्वरूप परिवर्तन के कारण उनसे उत्पन्न रस एवं भाव भी परिवर्तित हुए हैं.

यह तो सर्वमान्य है कि रागों के अपने कुछ भाव होते हैं जो एक विशेष तरह का वातावरण तैयार करने में सक्षम होते हैं, जिससे एक विशेष अनुभूति अथवा आनन्द का आभास होता है. कुछ सांगीतिक विद्वान राग से मिलने वाले इस आनन्द को 'रस-विशेष' की परिधि में बाँधने के पक्ष में नहीं है. किसी राग के स्वर-विशेष के रस के कारण उक्त राग को उसी रस का व्यंजक राग मानते हैं, इस विषय में मतान्तर है. इस संदर्भ में श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग जी का कथन है-''आनन्दानुभूति में ही रसानुभूति है, तथापि संगीत श्रवण के समय यह महसूस किया जाता है कि गायन-वादन के आरम्भ होते ही यह स्थिति नहीं आती है. यह क्रम इस प्रकार चलता है. आरम्भ होते ही रागसूचक स्वर लगने पर सर्वप्रथम राग के अनुकूल वातावरण बनता है. यदि दरबारी, तोड़ी या मारवा राग है तो एक अलग तरह की गम्भीरता लिए वातावरण बनता है. जब आलाप आरम्भ किए जाते हैं, तब दरबारी के ग के आन्दोलन से या तोड़ी के रे ग के कोमलत्व से तथा मारवा के कोमल रे से विशेष सनसनी सी शरीर में आती है, यह महसूस करने की बात है. ज्यों-ज्यों राग की अवतारणा होती है, विभिन्न सौन्दर्य स्थल आते हैं, तब कौन-सा राग है, कौन सी बन्दिश है, शब्द, तबले की ताल आदि से ध्यान हटाकर केवल आनन्द की स्थिति आनी शुरू होती है. इसी प्रकार किसी सभा में आरम्भ ही भैरवी, कलिंगड़ा, सारंग, छायानट से करें तो इन रागों के स्वर छेड़ते ही जो वातावरण में चंचलता अथवा श्रृंगारिकता आती है, वह उस वातावरण से भिन्न होती है. जो दरबारी या मारवा में पैदा होती है. इसे हम सुनकर महसूस कर सकते हैं.''[12]

इसी प्रकार रागों के उनके समयानुकूल गाने-बजाने से भी राग के रस एवं भाव की अधिकतम अभिव्यक्ति होती है. जैसे-प्रात: काल सूर्योदय के समय जब सूर्य की अरूणिमा शनै: शनै: प्रसृत होती है. उस समय भैरव में कोमल ऋषभ पर आन्दोलन करने से जो भाव उत्पन्न होता है वह यमन इत्यादि शुद्ध ऋषभ वाले रागों के गायन से सम्भव नहीं है, उस वातावरण के अनुरूप राग भैरव के गायन से ही उस समय की अधिकतम अभिव्यक्ति हो सकती है.

यदि केवल कोमल ऋषभ से भावोत्पत्ति की बात की जाए तो इस पर यह तर्क दिया जा सकता है कि राग मुल्तानी जिसका गायन समय सायंकाल है, उसमें भी तो कोमल ऋषभ है उसे प्रात:काल गाया जा सकता है परन्तु मुल्तानी की स्वरावलियों पर यदि ध्यान दें तो इसमें कोमल ऋषभ के साथ निषाद और तीव्र मध्यम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो सायंकालीन वातावरण में अधिकतम रसाभिव्यक्ति में सहायक हैं.

सांयकाल में तीव्र मध्यम की प्रमुखता लिए पूर्वी, पूरिया, धनाश्री तथा मारवा राग अधिक कर्णप्रिय होते हैं. इनको सायंकाल गाने से जो भाव पैदा होता है. वह प्रात: काल गाने-बजाने से नहीं होगा. कोमल, ऋषभ, तीव्र मध्यम और शुद्ध धैवत वाला राग 'मारवा' सांयकाल के वातावरण के अनुरूप है. कोमल ऋषभ के साथ बार-बार शुद्ध धैवत के प्रयोग से एक विचित्र सी व्याकुलता झलकती है. मारवा राग को प्रात: गाने से यह भाव उस वातावरण में उत्पन्न होना किंचित् सम्भव नहीं है. कुशल कलाकार तो हर भाव प्रकट करने का प्रयास करेगा और कुछ सीमा तक सफल भी होगा, परन्तु इस रस की अभिव्यक्ति जितनी इस समय होगी वह इसको प्रात:काल गाने से नहीं होगी.

उक्त बातें यह स्पष्ट करती हैं कि राग विशेष विशिष्ट रस से व्यंजक होते हैं अर्थात् यदि राग की अवतारणा उसके भाव, रूप व प्रकृति के अनुरूप की जाए तो राग विशेष भाव व्यक्त करने तथा रसप्लावित करने में समर्थ हैं.

संगीत का काव्यपक्ष 'बन्दिश':

संगीत में उसका काव्यपक्ष अर्थात् पद महत्वपूर्ण अवयव है. आचार्य भरत ने भी गान्धर्व की परिभाषा 'स्वरताल पदात्कम्' के रूप में दी है. यह पद ही स्वर-ताल में निबद्ध होकर बन्दिश का रूप प्राप्त करता है. इस 'बन्दिश' का रस की निष्पत्ति में कुछ सीमा तक योगदान अवश्य रहता है. बन्दिश में काव्यांश रहता है अत: इसमें न्यूनाधिक नाट्यतत्व अवश्य रहता है. इनके आधार पर श्रोता परिस्थिति का बोधकर अनुमिति द्वारा अपने मानस पटल पर एक कल्पनाजन्य धरातल अथवा भावमूर्ति का निर्माण कर उससे संलग्नित होकर आनन्दित होते हैं. यहाँ पर आचार्य भरत का 'रससिद्धान्त' लागू होता है.

राग गायन में बन्दिश की महत्ता होती है. यह बन्दिश स्वर, ताल तथा पद इन तीनों के सम्मिश्रण से बनता है. स्वर ताल और पद का समन्वित प्रयोग ही रंजकता का कारण बनता है. संगीतशास्त्र में बन्दिश को 'प्रबन्ध' के नाम से भी संज्ञित किया गया है. संगीत में ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, ठुमरी आदि प्रबन्ध रचनाएँ हैं जो अपनी शब्द रचना तथा विशिष्ट लय-ताल द्वारा विभिन्न रसों की उत्पत्ति करते हैं. ध्रुपद द्वारा अधिकांशत: वीर, करूण तथा शान्त रस एव धमार द्वारा श्रृंगार रस की निष्पत्ति होती है. ख्याल, टप्पा, तराना आदि में श्रृंगार, रौद्र आदि रस की सृष्टि होती हे. वहीं ठुमरी, दादरा, चैती आदि संयोग-वियोग श्रृंगार (जिसमें मिलन, रूठना, मनाना इत्यादि भाव होते हैं) रस निष्पत्ति के लिए श्रेष्ठ मानी जाती है. इस प्रकार कहा जा सकता है कि बन्दिश सांगीतिक रस निष्पत्ति में एक प्रमुख अवयव के रूप में कार्य करता है.

वाद्य, लय एवं ताल:

वाद्य अपनी विशिष्ट ध्वनि के आधार पर विभिन्न रसों की निष्पत्ति करते हैं. गम्भीर तथा भारी नाद वाले वाद्य जैसे वीणा, वायलिन, सरोद आदि शान्त, करूण रस उत्पन्न करने में सहायक होते हैं वही अपेक्षाकृत पतली आवाज वाले वाद्य जैसे सितार, छोटी बाँसुरी, शहनाई इत्यादि श्रृंगार रस में सहायक होते हैं.

ताल वाद्य भी रस निष्पत्ति में प्रमुख भूमिका का निर्वहन करते हैं. मृदंग, मार्दल, नगाड़ा आदि मेघ गर्जन सदृश गम्भीर नाद के होते है. जिनकी लयात्मक ध्वनियों में रौद्र, भयानक रस का अनुभव किया जा सकता है. वहीं ढोलक, तबला, ढप, खंजरी आदि श्रृंगार रस के अनुभावक होते हैं. वाद्यों के साथ-साथ इन पर बजने वाली तालों व लय का भी रस पर प्रभाव पड़ता है.

ध्वनि की मधुर किन्तु चंचल प्रकृति, द्रुतलय, अति द्रुतलय की ध्वनियाँ, तबला, नाल, खोल आदि में मिलेंगी. हास्य तथा विनोद भरी ध्वनियाँ हडुक्क, खंजरी आदि की लयात्मक ध्वनियों में सुनी जा सकती है. भय का आवेश उत्पन्न करने वाली लयात्मक ध्वनियाँ नगाड़ा, धौंसा, ढोल, सरोद, संतूर आदि से उत्पन्न की जा सकती है.

इन वाद्यों के साथ प्रयुक्त होने वाले ताल एवं लय भी रसोत्पत्ति में सम्यक सहायक सिद्ध होते हैं जैसे विलम्बित लय के ठेके-तिलवाड़ा एकताल झूमरा आदि करूण व शान्त रस प्रधान होते हैं उसी प्रकार चारताल सूलताल आदि वीररस तथा भक्ति रस के पोषक होते हैं तथा तीनताल, झपताल, कहरवा, दादरा आदि मध्य एवं द्रुतलय की तालें श्रृंगार रस को उत्पन्न करती है.

काकु:

काकु संगीत के सभी अवयवों में विद्यमान है इसलिए रस-निष्पत्ति में यह सर्वप्रथम है. काकु से तात्पर्य है वाचिक अभिनय अर्थात् वाणी का अभिनय. जब एक ही शब्द अथवा स्वर से पृथक-पृथक भावों की अभिव्यक्ति हो तो वह काकु तत्व है. काकु के द्वारा ध्वनि के सूक्ष्म भावों का प्रकटीकरण होता है. एक ही शब्द अथवा स्वर के भिन्न-भिन्न भावों का प्रकटीकरण अथवा उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को उदीप्त कर रसावस्था केा प्राप्त होने में काकु ही सहायक होता है.

‘‘ह्रस्व उकारान्त ‘काकु’ शब्द स्त्रीलिंग वाचक है जिसका प्रयोग लोलकता (लचीलापन) चपल (चंचल) तथा उत्ताप आदि के लिए किया जाता है. काकु ध्वनि का विकार है. ‘‘काकू शब्द की व्युत्पत्ति, लौल्य यनि चंचलता अर्थ वाली ‘कक्’ धातु से है लेकिन संदर्भ के अनुसार लौल्य का अर्थ है स्वर-वैचित्र्य. ‘कक्’ का अर्थ जिह्वा भी होता है इसलिए जिह्वा के व्यापार से सम्पन्न होने के कारण भी काकु कहलाती है.’’[13]

ध्वनि में मनोभावों को व्यक्त करने की विचित्र शक्ति है. ध्वनि के इन्हीं सूक्ष्म भावों का प्रकटीकरण जिसके माध्यम से होता है, उसे काकु कहते हैं. संगीत में स्वरकाकाकु, राग काकु, अन्य राग काकु, देसकाकु, क्षेत्र काकु, यन्त्र काकु नाम से 6 भेद बताए गए है. काकु प्रयोग संगीत की रस-निष्पत्ति में अत्यन्त प्रबल तत्व है. संगीत में रस-निष्पत्ति के लिए भावुकता आवश्यक है और इस संगीत को भावपूर्ण बनाने में काकु सबल सहायक है. काकु प्रयोग

से ही राग गायन वादन को भावपूर्ण बनाकर रसानुभूति की प्रक्रिया में अग्रसर होते है. संगीत में नादतत्व जो स्वयं में इतना सूक्ष्म है उसमें उसके भावों की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति काकु के माध्यम से ही सम्भव है जो एक क्षण में सीधे श्रोता के हृदय को रसाप्लावित कर देती है.

'रस एवं संगीत' यह विषय अब तक स्पष्ट नहीं है, इस पर अनेक मत-मतान्तर हैं. दोनों ही अनुभूति के विषय हैं तथा इनकी अनुभूति व्यक्तिगत है इसलिए इन्हें शब्द अथवा रूढ़ि में बाँधना सम्भव नहीं है.

संगीत अत्यन्त सूक्ष्म कला है. जिसमें निरन्तर भावान्तर होता रहता है, यह भावाश्रित तथा अव्यक्त है जिसे किसी रस विशेष का नाम देना 'हवा में गांठ लगाने' जैसा है.' यह श्रोता एवं कलाकार के सीमिततता तथा गहनता के ऊपर है कि वो इस सांगीतिक आनन्द का किस प्रकार से आस्वादन करता है. संगीत में भले ही नवरस के सन्दर्भ में विद्वानों एवं कलाकारों में मत भिन्नता हो किन्तु संगीत से एक विशिष्ट अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है. ये सभी को समवेत् रूप से स्वीकार्य है.

संगीत के इसी अलौकिक आनन्द को रस की संज्ञा दे दी गयी है जो श्रृंगारादि रस विशेष न भी हो तो भी पूर्ण सांगीतिक रस है जिसमें संगीत साधक अपनी योग्यता से श्रृंगारादि रस की अन्य उपाधियों का दर्शन करते हैं.

अन्तत: यह कह सकते हैं कि रस दिव्य है, विशिष्ट अलौकिक आनन्द है अर्थात् ब्रह्मानन्द सहोदर है जिसे बताने का पूर्ण प्रयास हमारे पूर्वाचार्यों ने किया है किन्तु वस्तुत: 'रस' स्वयं में इतना गहन तथा स्वानुभूति जन्य है कि उसे शब्दों की परिधि में बाँधना अथवा परिभाषित करना किंचित सम्भव नहीं है. इस दिव्य असाधारण रस के लिए तैत्तरीय उपनिषद में कहा गया है-'य तो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'[14] अर्थात् जहाँ वाणी विफल हो जाती है जिसे मन बुद्धि (तर्क) से प्राप्त करना असम्भव है. "वस्तुत: 'रस' ऐसा अनिर्वचनीय, अलौकिक असाधारण आनन्द है जिसे अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु इसका पूर्णत: वर्णन-विवेचन नहीं हो सकता."[15]

यद्यपि संगीत जैसे निरन्तर गतिशील प्रतिपल बदलने वाली तथा अमूर्त कला के आनन्द को किसी शब्द विशेष में वर्णित कर पाना किंचित सम्भव प्रतीत नहीं होता तथापि मैंने अपनी क्षमतानुरूप 'संगीत एवं रस' जैसे क्लिष्ट विषय की विवेचना करने की लघु चेष्टा इस शोध प्रपत्र के माध्यम से की है. संगीत के रसात्मक तत्वों का विवेचन तथा उनसे किस प्रकार से 'संगीत में रसोपलब्धि' होती है, इस पर प्रकाश डालना इस शोध प्रपत्र का मूल उद्देश्य है.

संदर्भ सूची:

1- असद् वा इदमग्र .....ह्येवायं लब्ध्वानन्दि भवति.
तैत्तरीयोपनिषद्, द्वितीय वल्ली, सप्तमोनुवाक्, गीताप्रेस, गोरखपुर उ0प्र0
2- आनन्दो ब्रह्मेति व्यंजानात् ..... प्रयन्त्याभि सविशन्तीति.
तैत्तरीयोपनिषद्, तृतीय वल्ली, षष्ठं अनुवाक गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0

3- अयं आत्मा .....भूतानि मधु,
वृहदारण्यक उपनिषद, द्वितीयोऽध्याय मधुब्राह्मणम्, श्लोक सं0 14, प्रकाशक-गीताप्रेस गोरखपुर (गोविन्द भवन कार्यालय)

4- वांग्मयानीह शास्त्राणि .... वाग् हि र्सवस्य कारणम्. आचार्य भरतकृत नाट्यशास्त्र, अध्याय 14, श्लोक सं0 3, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1921.

5- ठाकुर, ओंकारनाथ. *प्रणव भारती*, प्रथम तन्त्री, पिलिग्रिम्स पब्लिशिंग, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 18.

6- जैन, विजयलक्ष्मी. *संगीत दर्शन,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 65

7- ठाकुर, ओंकारनाथ. *प्रणव भारती*, प्रथम तन्त्री, पिलिग्रिम्स पब्लिशिंग, प्रथम संस्करण 2014, पृ0 44.

8- वही, पृ0 44-45.

9- वही, पृ0 53.

10- जैन, विजयलक्ष्मी. *संगीत दर्शन*, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 66.

11- आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र, उद्धृत-प्रो0 प्रेमलता शर्मा, *रस-सिद्धान्त* (मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988, पृ0 49.

12- जैन, विजयलक्ष्मी. *संगीत दर्शन,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण 1989, पृ0 76.

13- चौधरी, सुभद्रा. *संगीत संचयन*, राधा पब्लिकेशन्स, पृ0 220.

14- तैत्तरीयोपनिषद, द्वितीय आनन्दवल्ली, चतुर्थ अनुवाक्, गीताप्रेस, गोरखपुर.

15- दीक्षित, प्रदीप कुमार. 'नेहरंग', *स 'रस' संगीत*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 2016, पृ0 10.